

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:28-01-22

यूक्रेन संकट और भारत

संपादकीय

यूक्रेन को लेकर रूस और नाटो सहयोगियों के बीच जो गतिरोध व्याप्त है उससे सवाल उठता है कि भारत को इस घटनाक्रम के बारे में तथा इससे उत्पन्न विभिन्न भूराजनीतिक परिस्थितियों को लेकर किस तरह की प्रतिक्रिया देनी चाहिए। हमारी प्रतिक्रिया संभवतः इस बात को ध्यान में रखकर तैयार होनी चाहिए कि इस विवाद में अमेरिका और चीन के आपसी रिश्ते सबसे प्रमुख हैं। ऐसा लगता है कि रूस और चीन दोनों यह मानते हैं कि अमेरिका की आर्थिक और सैन्य क्षमताओं का पराभव हुआ है, सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें लगता है कि अमेरिका शक्ति को लेकर अपनी इच्छाशक्ति गंवा चुका है। उन्हें लगता है कि अमेरिका में घरेलू राजनीतिक धुवीकरण, महामारी को लेकर तालमेल वाले कदमों का अभाव तथा 2021 में अफगानिस्तान से नाटो तथा अमेरिकी सेनाओं की हड़बड़ी में हुई विदाई इस बात का सबूत है कि अमेरिका का पराभव हो रहा है और इसलिए चीन और रूस के पास यह मौका है कि वे अपने-अपने संशोधित एजेंडे को अधिक शिद्दत के साथ आगे बढ़ा सकें। चीन के एजेंडे में ताइवान पर कब्जा शामिल है, भले ही इसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता पड़े। रूस के लिए इसका अर्थ है अपने आसपड़ोस के इलाके मसलन पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया में अपना दबदबा दिखाना। यूक्रेन को लेकर मौजूदा विवाद इन्हीं महत्वाकांक्षाओं के कारण उत्पन्न तनाव का लक्षण है। हालांकि नतीजों का अनुमान जताना मुश्किल है लेकिन भारत पर भी इन घटनाओं का अहम प्रभाव होगा।

अगर चीन बिना अमेरिकी एवं उसके पूर्वी एशियाई साझेदारों की सैन्य प्रतिक्रिया से निपटे एकीकरण का यह लक्ष्य हासिल कर लेता है तो हिंद-प्रशांत क्षेत्र का भूराजनीतिक परिदृश्य नाटकीय ढंग से बदल जाएगा। इस क्षेत्र में चीन की ताकत और उसका प्रभाव बढ़ेगा और इसके साथ ही भारत के लिए खतरा भी उतना ही बढ़ेगा। चीन की एकपक्षीय आक्रामकता का प्रतिकार करने में क्वाड नाकाम रहा है। ऐसे में वह प्रतिरोधक समूह के रूप में अपनी प्रासंगिकता गंवा सकता है। चीन के नेतृत्व वाली एशियाई व्यवस्था हकीकत बन सकती है और भारत को चीन से निपटने की अपनी नीतियों का नए सिरे से आकलन करना होगा। अमेरिका और रूस के रिश्तों की बात करें तो यूक्रेन पर रूस का हमला होने पर अगर केवल आर्थिक प्रतिबंध लगते हैं और राजनीतिक निंदा होती है तो अमेरिका समेत पश्चिम की विश्वसनीयता पर ही सवाल उठ खड़ा होगा।

भारत का आकलन यह रहा है कि भले ही रूस और चीन में करीबी रणनीतिक साझेदारी है लेकिन जरूरी नहीं कि दीर्घावधि में भी उनके हित एक साथ हों। अगर रूस के लिए करीबी पड़ोस उसकी दिलचस्पी का विषय है तो उसे असली खतरा अमेरिका या पश्चिम से नहीं बल्कि इस क्षेत्र में चीन के बढ़ते राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव से है। संभव है कि अमेरिका को लगे कि चीन के साथ सामरिक समझ बनाने से उसके वैश्विक हित बेहतर पूरे होंगे। संभव है वह यूरोप में अपना खेमा संभालने को तवज्जो दे। ऐसे में एशियाई व्यवस्था चीनी नेतृत्व के हाथ आ जाएगी। इस घटनाक्रम में भारत के हितों की बलि चढ़ेगी। भारत को इसे ध्यान में रखते हुए ही अपने कदम तय करने चाहिए। ये भूराजनीतिक घटनाएं इस बात को भी रेखांकित करती हैं कि भारत के विकल्प तभी बढ़ेंगे जब देश की आर्थिक और सैन्य क्षमता तेजी से तथा सतत गति से बढ़ेगी और चीन के साथ हमारा शक्ति संतुलन सुधरेगा। इसके लिए राजनीतिक नेतृत्व का ध्यान उच्च वृद्धि हासिल करने

पर होना चाहिए। साथ ही कूटनीतिक मोर्चे पर भी सधे हुए कदम उठाने होंगे। चीन की अर्थव्यवस्था धीमी हो रही है, उसका जनांकीय ढांचा विपरीत हो रहा है और राजनीति लगातार विचारधारा केंद्रित है। उसकी घरेलू चुनौतियां भारत को फौरी राहत दे सकती हैं और इस समय का सदुपयोग हम अपनी आर्थिक नीति तथा विदेश नीति को दुरुस्त करने में कर सकते हैं।

जनसत्ता

Date:28-01-22

तकरार में नौकरशाही

संपादकीय



भारतीय प्रशासनिक सेवा यानी आइएएस अधिकारियों के प्रतिनियुक्ति संबंधी नियम केंद्र सरकार जिस प्रकार लागू करना चाहती है, उससे केंद्र और राज्यों के बीच विवाद की पूरी आशंका है। ओड़ीशा, पश्चिम बंगाल, केरल, तमिलनाडु और झारखंड सहित कई राज्यों की ओर से इस मसले पर विरोध से साफ है कि आइएएस अधिकारियों की केंद्रीय प्रतिनियुक्ति पर नए प्रस्ताव को लेकर केंद्र की राह आसान नहीं होगी। राज्यों के मुताबिक, यह नियम देश के संघीय ढांचे के खिलाफ है। कुछ राज्यों की प्रतिक्रिया से यही धारणा बनी है कि एक बार अगर नया नियम लागू हो गया तो यह राज्यों के प्रशासन के साथ-साथ विभिन्न विकास परियोजनाओं के कार्यान्वयन को प्रभावित करेगा। ऐसी आशंकाएं भी जाहिर की गई हैं कि इस नियम से अधिकारियों के बीच डर पैदा होगा, ये बदलाव केंद्र और राज्य सरकारों के लिए निर्धारित संवैधानिक अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करेंगे और अफसरों के बेखौफ

या ईमानदारी से काम करने की भावना को कम करेंगे; इससे राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था चरमरा सकती है।

हालांकि इस पर केंद्र सरकार ने कहा है कि चूंकि राज्य प्रतिनियुक्ति के लिए पर्याप्त संख्या में आइएएस अधिकारियों को नहीं भेज रहे हैं, इसलिए केंद्रीय स्तर पर प्रशासनिक कामकाज प्रभावित हो रहा है। मगर प्रस्तावित संशोधन पर केंद्र और राज्यों के बीच जिस तरह की खींचतान सामने आई है, उससे यही लगता है कि इस मुद्दे पर कदम आगे बढ़ाने के संदर्भ में संभवतः केंद्र और राज्य सरकारों के बीच पर्याप्त बातचीत नहीं हुई और पहले सहमति बनाने की कोशिश नहीं की गई। संभव है कि केंद्र की इस शिकायत का कोई मजबूत आधार हो कि प्रतिनियुक्ति के लिए आइएएस अधिकारियों की कमी से केंद्रीय कामकाज पर असर पड़ रहा है, लेकिन क्या इस पहलू पर भी गौर करने की कोशिश की गई कि राज्यों में प्रशासनिक कामकाज में जिम्मेदारी के अनुरूप स्वरूप क्या है, उसमें इन अफसरों की कितनी जरूरत है, उसके मुकाबले उपलब्धता क्या

हैं और बहाली के लिए पदों से लेकर रिक्तियों की तस्वीर क्या है? इसके अलावा, राज्यों की ओर से इस प्रस्ताव के जरिए बनने वाले जिन दबावों की आशंका जताई गई है, क्या वे पूरी तरह निराधार हैं!

जाहिर है, इस सवाल पर स्थिति स्पष्ट होनी चाहिए कि अगर केंद्र में संयुक्त सचिव स्तर तक आइएएस अफसरों का प्रतिनिधित्व घट रहा है और सेवा के लिए राज्यों की ओर से प्रायोजित अधिकारियों की संख्या बहुत कम है, तो इसके लिए कौन और कैसी परिस्थितियां जिम्मेदार हैं! कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग यानी डीओपीटी ने आइएएस (कैडर) नियम, 1954 में बदलाव का जो प्रस्ताव दिया है, उसके तहत केंद्रीय प्रतिनियुक्ति पर अधिकारियों की मांग के लिए केंद्र के अनुरोध को रद्द करने वाली राज्यों की शक्ति छिन जाएगी। अगर व्यवहार में प्रस्तावित संशोधन का ऐसा असर होगा तब निश्चित रूप से यह सभी पक्षों के लिए विचार करने का विषय है कि कहीं इसका विस्तार संघीय तानाबाना और संविधान के मूलभूत ढांचे तक तो नहीं होगा, जिसकी आशंका राज्यों की ओर से जताई जा रही है। खासकर अगर किसी राज्य की चुनी हुई सरकार के खिलाफ केंद्र नौकरशाही को हथियार बनाता है, तब इस पर गंभीर सवाल उठेंगे। यह ध्यान रखने जरूरत है कि अगर इस मसले पर केंद्र और राज्यों के बीच दरार आने की स्थितियां पैदा होती हैं, तो इससे संघीय ढांचा और लोकतंत्र के स्वरूप को लेकर चिंता पैदा होगी।



Date:28-01-22

हिंसक होते असंतोष के मायने

संजय कुमार, (प्रोफेसर और निदेशक, सीएसडीएस)



आरआरबी-एनटीपीसी के परीक्षा-परिणाम में धांधली का आरोप लगाते हुए बिहार और उत्तर प्रदेश के छात्र आंदोलित हैं। गुस्साए अभ्यर्थियों ने एकाधिक ट्रेनों को भी आग के हवाले कर दिया, जिसके बाद विरोध-प्रदर्शन के औचित्य पर सवाल उठने लगे हैं। चर्चा होने लगी है कि सार्वजनिक संपत्तियों को नुकसान पहुंचाकर अपनी मांगें मनवाना क्या उचित है! निस्संदेह, विरोध एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा लोग अपनी शिकायत या नाराजगी जाहिर करते हैं, मगर यह भी सच है कि किसी भी हिंसक विरोध का समर्थन नहीं किया जा सकता।

दरअसल, किसी भी लोकतांत्रिक देश में प्रशासन तक अपनी बात पहुंचाने के लिए जनता विरोध का सहारा लेती है। यह एक ऐसा अधिकार है, जो संविधान द्वारा देश के नागरिकों को

हासिल है। लोकतंत्र का एक मजबूत स्तंभ है यह। जनता ने भले सरकार को चुना हो, लेकिन अगर उसे लगता है कि हुकूमत उसकी बातें नहीं सुन रही, तो वह विरोध के अपने सांविधानिक अधिकारों के तहत अपनी बात हुकूमरानों तक पहुंचाती है।

मगर विरोध को लेकर जितनी चिंता पिछले एक दशक से देखने को मिल रही है, उतनी पहले नहीं थी। विरोध कोई आज की परंपरा नहीं है। आजादी ही हमें विरोध से हासिल हुई है। आजाद भारत में भी 1975-77 के आपातकाल के खिलाफ तमाम राज्यों में विरोध-प्रदर्शन हुए, क्योंकि लोग सरकार के अलोकतांत्रिक रवैये से नाराज थे। 1991 में जब मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किया गया, तब भी देश भर के छात्रों ने विरोध किया। 1990 के दशक की शुरुआत में मंदिर-मस्जिद को लेकर भी पूरे देश में विरोध चलता रहा। सीएए-एनआरसी को लेकर भी लोग उबलते रहे। राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली की सीमा पर तो किसानों का आंदोलन एक साल तक चला। मगर पहले प्रशासन विरोध-प्रदर्शनों से विचलित नहीं होता था। आंदोलकारियों को राष्ट्रद्रोही साबित करने की जल्दबाजी नहीं होती थी। इतने सख्त हाथों से आंदोलनों को दबाने की कोशिश नहीं की जाती थी। बेशक, प्रशासन को आंदोलन से निपटने का अधिकार है, ताकि सार्वजनिक संपत्ति को कोई नुकसान न पहुंचे या आम जनता को असुविधा न हो, लेकिन पहले के वर्षों में आंदोलनकारियों को शांत करने के लिए लोकतांत्रिक तरीके अपनाए जाते थे। बातचीत का दरवाजा खुला रखा जाता था। लेकिन अब इसका अभाव दिखने लगा है।

यहां यह बहस बेमानी है कि इस तरह के आंदोलन सफल नहीं होते। इतिहास के पन्ने बताते हैं कि ऐसे विरोध सफल हुए हैं। अंग्रेजी हुकूमत का विरोध हमें आजादी की सौगात दे गया। आपातकाल के विरोध से सरकार बदली। मंडल आयोग का आंदोलन सुप्रीम कोर्ट तक गया और अंत में ओबीसी के लिए आरक्षण का प्रावधान लागू हुआ। राम मंदिर भी अपने अंजाम तक पहुंचा। किसान आंदोलन के बाद सरकार को तीनों कृषि कानून वापस लेने पड़े। सीएए और एनआरसी को भी विरोध के बाद ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। कुलजमा, तात्पर्य यही है कि इस तरह के आंदोलन इसलिए सफल होते हैं, क्योंकि जिन मुद्दों पर ये किए जाते हैं, उनसे जनता के एक बड़े हिस्से का सरोकार जुड़ा होता है। आज बिहार और उत्तर प्रदेश में भी यही हो रहा है। करीब सवा लाख पदों के लिए सवा करोड़ अभ्यर्थियों ने आवेदन दिया था, यानी एक पद पर सौ गुना आवेदन आए थे, जबकि ज्यादातर भर्तियां ग्रुप डी स्तर की थीं। यह संकेत है कि देश में जबर्दस्त बेरोजगारी है। अलग-अलग राज्यों में बेरोजगारी दर ऊंची भी है। जाहिर है, छात्र नाराज हैं। उनको लग रहा होगा कि उन्होंने शिक्षा तो हासिल कर ली है, लेकिन अब नौकरी नहीं पा रही।

इन छात्रों का आंदोलन भी सफल होता दिख रहा है। यह सही है कि विरोध का तरीका हिंसक नहीं होना चाहिए। महात्मा गांधी हमेशा यही कहते थे कि हिंसा से आंदोलन भटक जाता है। मगर कई बार आंदोलनों में हिंसा हो जाती है। इसकी बड़ी वजह यह है कि चूंकि इनमें बड़ी संख्या में लोग शामिल होते हैं, तो सभी का स्वभाव एक सा नहीं होता। इनमें कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो आक्रामक होते हैं और जल्द ही हिंसक हो उठते हैं। इससे ऐसा नहीं मानना चाहिए कि सभी आंदोलनकारी हिंसा का समर्थन कर रहे हैं। फिर, आंदोलन जब बहुत लंबा चल जाता है और आंदोलनकारियों को लगने लगता है कि उनकी बातें नहीं सुनी जा रही, तब उनका धैर्य चूकने लगता है। आजादी के आंदोलन में चौरीचौरा कांड हमने देखा है। किसान आंदोलन में ही 26 जनवरी, 2021 को दिल्ली में जहां-तहां हुड़दंग मचता रहा, जिसकी चौतरफा आलोचना भी हुई।

मगर छात्रों का यह आंदोलन ज्यादा पुराना नहीं है, और वे इसलिए हिंसक हो उठे, क्योंकि उनको लगा होगा कि हिंसा से ही सरकार और मीडिया का ध्यान खींचा जा सकता है। दुर्भाग्य से, ऐसा हुआ भी। शुरुआती तीन-चार दिन इस आंदोलन

की कहीं कोई चर्चा नहीं थी, लेकिन जैसे ही आगजनी और तोड़फोड़ हुई, सरकारों ने तत्परता दिखानी शुरू कर दी। आंदोलनकारियों को अपनी मांग मनवाने का यह शॉर्टकट तरीका लगा होगा। हालांकि, जब किसी आंदोलन में बड़ी संख्या में लोग हिस्सा लेते हैं, तो उसके बहकने का खतरा ज्यादा होता है।

सवाल है कि आंदोलन को हिंसक होने से रोकने के लिए सरकारों को क्या करना चाहिए? दिक्कत यह है कि जब भी विरोध-प्रदर्शन शुरू होते हैं, तब सरकारी अमला देर से पहल करता है। इसी कारण आंदोलनकारी अपना संयम खोने लगते हैं। सरकारों को यह इंतजार नहीं करना चाहिए कि आक्रामक होने के बाद ही आंदोलनकारियों से बात की जाएगी, क्योंकि बातचीत ही समाधान का एकमात्र रास्ता है, इसलिए इसकी शुरुआत जितनी जल्दी होगी, विरोध-प्रदर्शन की आग उतनी जल्दी ठंडी हो जाएगी। एक बात और, कोई भी बड़ा जन-आंदोलन दमन से नहीं दबाया जा सकता। आंदोलनकारियों पर राजद्रोह या अन्य कानूनी धाराएं लगाकर हुकूमत आग में घी डालने का काम करती है। इतिहास भी ऐसे तरीकों को गलत साबित कर चुका है।
